वैकल्पिक राजनीतिक विचारधाराओं की रचना के लिए प्रेरित किया, जिनके बूते पर महाराष्ट्र और मद्रास में अछूतों और गैर-ब्राह्मण जातियों ने शक्तिशाली आंदोलन संगठित किए, जो मुख्यत: उनके अपने उत्थान के लिए थे। वे लोग उदीयमान राष्ट्रवादी आंदोलन को नई उपनिवेशी संस्थाओं पर ब्राह्मणों के वर्चस्व की स्थापना का षड्यंत्र समझते थे तथा उपनिवेशी सरकार को अपने संरक्षक और मुक्तिदाता के रूप में देखते थे (और विस्तार के लिए अध्याय 7.2 देखें)। इस तरह शीर्ष से भारतीय राष्ट्र की कल्पना की राजनीतिक परियोजना को आरंभ से ही विविधता और विभिन्नता के मुश्किल मुद्दे का सामना करना पड़ा। स्पष्ट है कि प्रशासन ने उपनिवेशी समाज के ऐसे अंतर्विरोधों का फ़ायदा उठाया और उभरते हुए भारतीय राष्ट्रवादियों की राह में और भी रोड़े अटकाने के लिए और भी प्रोत्साहित किया; ये राष्ट्रवादी अपनी तमाम कमज़ोरियों और सीमाओं के बावजूद राज के लिए कुछ अप्रीतिकर प्रश्न उठा रहे थे। यही संदर्भ है जिसमें 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। बाद के वर्षों में भारतीय राष्ट्रवादी राजनीति पर उसी का वर्चस्व रहा और इन अंतर्विरोधों को हल करने के लिए वह सफल-असफल प्रयास करता रहा।

4.4 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसे आगे चलकर भारत की स्वतंत्रता के संघर्ष में एक केंद्रीय भूमिका निभानी थी, बंबई में दिसंबर 1885 में डब्ल्यू. सी. बनर्जी की अध्यक्षता में आयोजित एक सम्मेलन में बनाई गई थी। सेवानिवृत्त अंग्रेज़ सिविल अधिकारी एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम की इस प्रक्रिया में केंद्रीय भूमिका थी। कारण कि वही थे जिन्होंने पूरे उपमहाद्वीप के दौरे किए, बंबई, मद्रास और कलकत्ता के प्रमुख राजनीतिक नेताओं से बातें कीं और उनको एक राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार किया, जिसे आरंभ में पूना में आयोजित किया जानेवाला था। पर इस मराठी नगर को हैजा के प्रकोप ने इस सौभाग्य से वंचित कर दिया, जो अब और अधिक विश्वमुखी उपनिवेशी नगर बंबई के हिस्से में आया। मगर इस पहले सत्र का चाहे जो ऐतिहासिक महत्त्व रहा हो, उसमें ह्यूम की भागीदारी ने कांग्रेस के उत्स के बारे में अनेक विवादों को जन्म दिया। इस मामूली से तथ्य ने सुरक्षा (सेफ़्टी) वॉल्व का या षड्यंत्र का जो सिद्धांत कायम किया, उसे दक्षिणपंथी, वामपंथी और मध्यमार्गी, हर तरह के इतिहासकार एक लंबे समय तक मानते रहे। इसे तो राष्ट्रीय आंदोलन के कुछ धुरंधरों तक ने स्वीकार किया। लेकिन हाल के अनुसंधानों से इसका बुरी तरह खंडन हो चुका है।

इस सिद्धांत का जन्म ह्यूम के विलियम वेडरबर्न कृत जीवनचरित से हुआ जो 1913 में प्रकाशित हुआ। वेडरबर्न एक और भूतपूर्व सिविल अधिकारी थे, जिन्होंने

लिखा कि 1878 में ह्यूम ने खुफ़िया रिपोर्टों की सात ज़िल्दें देखीं और उनसे पता चला कि निचले वर्ण असंतोष से उबल रहे थे और ब्रिटिश सरकार को ताकत के बल पर पलटने की साजिश चल रही थी। वे चिंतित हो उठे, लॉर्ड डफ़रिन से मिले और मिलकर उन्होंने शिक्षित भारतवासियों का एक संगठन बनाने का निर्णय किया। यह शासकों और शासितों के बीच संवाद का एक माध्यम बनकर सेफ़्टी वॉल्व का काम करेगा और इस तरह एक जनक्रांति को रोकेगा। इस तरह कांग्रेस ब्रिटिश राज की पैदावार थी। सेफ़्टी वाल्व के इस सिद्धांत में आरंभिक राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने विश्वास किया; साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने इसका उपयोग कांग्रेस को बदनाम करने के लिए किया और इसी से मार्क्सवादी इतिहासकारों ने षड्यंत्र के सिद्धांत का विकास किया। मिसाल के लिए, रजनी पाम दत्त ने लिखा कि कांग्रेस भारत में एक जन-विद्रोह को रोकने के षड्यंत्र से पैदा हुई और इसमें भारत के पूँजीवादी नेता भी शामिल थे। सेफ़्टी वॉल्व या षड्यंत्र के ये सिद्धांत 1950 के दशक में गलत साबित हो गए। पहली बात यह कि भारत या लंदन के किसी भी अभिलेखागार में खुफ़िया रिपोर्टों की ये सात ज़िल्दें नहीं मिली हैं। इतिहासकारों का तर्क है कि 1870 के दशक में ब्रिटिश सूचना व्यवस्था के ढाँचे को देखते हुए खुफ़िया रिपोर्टों की इतनी सारी ज़िल्दों का अस्तित्व बिलकुल नामुमकिन रहा होगा। ह्यूम के वेडरबर्न कृत जीवनचरित के अलावा ऐसी रिपोर्टों की मौजूदगी का कोई हवाला कहीं और नहीं पाया गया है, और वे भी इस बात का ज़िक्र करते हैं कि ह्यूम को ये रिपोर्टें धर्मगुरुओं ने दी थीं और ये किसी आधिकारिक स्रोत से प्राप्त नहीं की गई थीं। उसके बाद 1950 के दशक के अंतिम वर्षों में लॉर्ड डफ़रिन के निजी कागज़ात के सामने आने के बाद यह भ्रांति दूर हो गई, क्योंकि इनसे यह कथा झूठी साबित होती है कि डफ़रिन ने कांग्रेस या ह्यूम को प्रायोजित किया था। वह मई 1885 में शिमला में ह्यूम से अवश्य मिला था, पर उनको गंभीरता से स्वीकार नहीं किया था और फिर उसने बंबई के गवर्नर को सुनिश्चित आदेश दिए थे कि उस नगर में जो प्रतिनिधि उनसे मिलने वाले थे, उनके बारे में होशियार रहें। प्रस्तावित बैठक के बारे में वह और बंबई का गवर्नर लॉर्ड री दोनों ही सशंकित थे और उसके खिलाफ़ थे, क्योंकि वे समझते थे कि ये लोग भारत में आयरलैंड के होमरूल लीग आंदोलन जैसी कोई चीज़ आरंभ करना चाहते हैं। कांग्रेस की स्थापना के कुछ ही समय बाद डफ़रिन कांग्रेस की खुलकर भर्त्सना उसके संदिग्ध उद्देश्यों के आधार पर कर रहा था। 1888 में उसने उसकी आलोचना एक "अतिलघु अल्पमत" का प्रतिनिधि होने के आधार पर की, और अगर कुछ और नहीं तो केवल यही वक्तव्य सेफ़्टी वॉल्व या षड्यंत्र के सिद्धांत की धज्जी उड़ा देता है। आज इतिहासकार कमोबेश इस बात पर सहमत हैं कि खुफ़िया रिपोर्टों की सात ज़िल्दों की कहानी मनगढ़ंत है और एक दोस्ताना

जीवनीलेखक वेडरबर्न ने इसे ह्यूम को ऐसे देशभक्त अंग्रेज़ के रूप में चित्रित करने के लिए गढ़ा, जो एक आसन्न संकट से ब्रिटिश राज को बचाना चाहता था। इस तरह जैसा कि विपिनचंद्र ने कहा है, "समय आ गया है कि सेफ़्टी वॉल्व के सिद्धांत को ... उन्हीं महात्माओं के हवाले कर दिया जाए, जिनसे संभवत: उसका आरंभ हुआ था।"[14]

लेकिन यह तथ्य अपनी जगह कायम रहता है कि कांग्रेस की स्थापना में ह्यूम की एक केंद्रीय भूमिका थी, हालाँकि हो सकता है कि सेफ़्टी वॉल्व या षड्यंत्र के सिद्धांतों में उनकी भूमिका की बहुत अधिक अतिशयोक्ति की गई हो। वास्तव में ह्यूम राजनीतिक उदारवादी थे, जिनके मन में भारतीयों में बढ़ते असंतोष के बारे में स्पष्ट विचार थे। इसलिए उन्होंने एक अखिल भारतीय संगठन की कल्पना की, जो भारतीय हितों का प्रतिनिधित्व करे और महारानी की (सरकार के) विपक्ष की भूमिका निभाए। उन्होंने वायसरॉय लॉर्ड रिपन से संपर्क किया और उनके उदारवादी सुधार कार्यक्रम को पूरा समर्थन देने का वादा किया, खासकर उनकी स्थानीय स्वशासन आरंभ करने की योजना को, जिसे वे जानते थे कि उनके कंज़र्वेटिव सहकर्मी बेकार करने के प्रयास करेंगे और इस तरह खुद खतरे में पड़ेंगे। रिपन के जाने के बाद उन्होंने शिक्षित भारतीयों के बीच अपने व्यापक संपर्कों को जोड़ने का काम शुरू किया, ताकि वे (भारतीय) अपनी शिकायतें पेश करने के लिए एक वैध मंच के रूप में एक राष्ट्रीय संगठन में आएँ। लेकिन अगर ह्यूम ने कोई पहल न की होती, तो भी भारत में 1870 और 1880 के दशकों में एक राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के आसार साफ़ नज़र आ रहे थे।

जैसा कि हम देख चुके हैं, तीनों प्रेसिडेंसियों में शिक्षित भारतीयों के समूह राजनीति में सक्रिय थे और उन्होंने ऐसे नए संगठन बना लिए थे, जो विभिन्न राष्ट्रीय प्रश्नों पर नागरिक स्वतंत्रताओं और संगठित देशव्यापी आंदोलनों के लिए सक्रिय होने लगे थे। मिशनरियों के हस्तक्षेपों और 1850 के लेक्स लोकी ऐक्ट के खिलाफ़ भारत के विभिन्न भागों में एक साथ प्रतिरोध हुए थे। 1867 में प्रस्तावित आयकर के खिलाफ़ और एक संतुलित बजट की माँग के समर्थन में एक राष्ट्रवादी आंदोलन हो चुका था। फिर 1877-80 में सिविल सेवाओं के भारतीयकरण की माँग पर एक विशाल अभियान चल चुका था, और लॉर्ड लिटन के खर्चीले और दुस्साहसिक अफ़गान अभियानों के खिलाफ़ भी, जिनका खर्च भारतीय राजस्व से उठाया जा रहा था। 1878 के बदनाम वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट के खिलाफ़ भी भारतीय प्रेस और संगठनों ने जमकर एक अभियान चलाया था। उन्होंने 1881-82 में बागान मज़दूरों और अंतर्देशीय प्रवास संबंधी उस कानून (इन्लैंड एमिग्रेशन ऐक्ट) के खिलाफ़ प्रतिरोध संगठित किए थे, जो बागान मज़दूरों को भू-दास बनाकर रख देता। अंतिम बात यह कि 1883 में इल्बर्ट बिल के समर्थन में एक बड़ा राष्ट्रव्यापी आंदोलन आरंभ किया

गया था, जब अंग्रेज़ी राज के न्याय में शिक्षित भारतवासियों का विश्वास हिलकर रह गया था। 1885 में एक राष्ट्रीय कोष बनाने के लिए देशव्यापी प्रयास किया गया था, जिसका उपयोग भारत और इंगलैंड में राजनीतिक आंदोलन चलाने के लिए किया जाता। उसी साल भारतवासियों ने उस वॉलंटियर कोर में शामिल होने के अधिकार की लड़ाई लड़ी, जो तब तक केवल यूरोपवालों के लिए आरेक्षित था और फिर ब्रिटिश मतदाताओं से उन उमीदवारों को मत देने की अपील की, जो भारत के मित्र थे। ऐसे आंदोलनों के संगठन की खास पहल प्रेसिडेंसियों के संगठनों ने की, और उनमें सबसे मुखर इंडियन एसोसिएशन था। लेकिन ये संगठन प्रेसिडेंसी नगरों तक ही सीमित नहीं थे। लाहौर, अमृतसर, मेरठ, कानपुर, अलीगढ़, पूना, अहमदाबाद, पटना या कटक जैसे दूसरे सूबाई नगरों में भी जो मुद्दे स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय लगते थे, उन पर शुरू किए गए आंदोलनों से ये संगठन उसी कदर प्रभावित हुए। पश्चिमी शिक्षा और अंग्रेज़ी भाषा ने इन क्षेत्रीय कुलीनों के बीच एक संबंध स्थापित कर दिया था, जबकि कष्टों का साझापन क्षेत्रीय बाधाओं के आर-पार एक नई राजनीतिक चेतना के जन्म के लिए अनुकूल साबित हुआ।

इन संगठनों द्वारा उठाई गई ये माँगें अधूरी रहीं और उस बात ने क्षेत्रीय नेताओं को एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता का और भी विश्वास दिलाया। यूँ तो किसी भी काल में विभिन्न नगरों के नेताओं के बीच औपचारिक संबंधों का अभाव नहीं रहा, फिर भी एक औपचारिक मंच की स्थापना के प्रयास भी कई बार किए जा चुक थे। अखिल भारतीय संबंध बनाने के ऐसे प्रयास सबसे पहले 1851 में किए गए थे, जब कंपनी के चार्टर के नवीनीकरण से पहले ब्रिटिश संसद को एक संयुक्त ज्ञापन भेजने के मकसद से कलकत्ता के ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन ने बाकी दो प्रेसिडेंसियों में भी शाखाएँ स्थापित करने के प्रयास किए थे। फिर 1877 में दिल्ली दरबार के अवसर पर भी जिन भारतीय पत्रकारों को इस भड़कदार समारोह के लिए आमंत्रित किया गया था, उन्होंने एक नेटिव प्रेस एसोसिएशन कायम करने के लिए इस अवसर का उपयोग किया। उन्होंने इंडियन एसोसिएशन के नेता और *Bengalee* के संपादक एस. एन. बनर्जी को अपना पहला सचिव चुना तथा प्रेस और देश से संबंधित मुद्दों पर चर्चा के लिए हर साल एक या दो बैठकें करने का संकल्प किया। इंडियन एसोसिएशन ने 1883 में कलकत्ता में एक राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया तथा एक और सम्मेलन दिसंबर 1885 में होनेवाला था। फिर थियोसोफ़िकल सोसायटी के एक सदस्य की निजी पहल पर मद्रास में 1884 में भारत के विभिन्न भागों से आए प्रतिनिधि सोसायटी के वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर एक राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता पर चर्चा करने के लिए अलग से मिले। इस तरह एक राष्ट्रीय संगठन का उदय स्पष्ट रूप से आसन्न था, हालाँकि जिन आपसी ईर्ष्याओं ने 1851 में

ऐसी कोशिशों को नाकाम बनाया था, वे अभी भी पूरी तरह दूर नहीं हुई थीं। अभी भी एक ऐसे मध्यस्थ की ज़रूरत थी, जो इन तमाम क्षेत्रीय नेताओं को एक ही सांगठनिक छतरी के नीचे ला सके। ह्यूम इस भूमिका के लिए एकदम उपयुक्त थे, क्योंकि उनकी परा-क्षेत्रीय (supra-regional) पहचान ने उन्हें तमाम क्षेत्रीय नेताओं के लिए स्वीकार्य बना दिया। वे अपने सुज्ञात उदार राजनीतिक विचारों के कारण भी स्वीकार्य थे।

इस तरह दिसंबर 1885 में जन्म लेनेवाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने आरंभ से ही ऐसे क्षेत्रीय मतभेदों को दूर करने के प्रयास किए। पहली कांग्रेस सत्र ने ऐलान किया कि "राष्ट्रीय एकता की उन भावनाओं को विकसित और मज़बूत करना" उसके प्रमुख उद्देश्यों में से एक होगा। देश के विभिन्न भागों में कांग्रेस का वार्षिक सत्र आयोजित करने और जिस क्षेत्र में कोई सत्र हो रहा हो, उसका अध्यक्ष उससे भिन्न किसी क्षेत्र से चुनने के फ़ैसले का मकसद क्षेत्रीय बाधाओं और गलतफ़हमियों को दूर करना था। 1888 में तय किया गया कि हिंदू या मुस्लिम प्रतिनिधियों के भारी बहुमत के आपत्ति करने पर कोई प्रस्ताव पारित नहीं किया जाएगा; 1889 में पारित एक प्रस्ताव में विधायिकाओं के सुधार की माँग की गई, तो उसमें एक अल्पमत की धारा (clause) को प्रमुख स्थान दिया गया। इन सभी प्रयासों का घोषित उद्देश्य एक ऐसा मंच तैयार करना था, जिस पर भारत के विभिन्न भागों के राजनीतिक चेतना से संपन्न लोग एकजुट हो सकें। इसका आयोजन एक संसद की तर्ज़ पर होता था और सत्रों का संचालन लोकतांत्रिक ढंग से किया जाता था।[85] यह सब सच्चे अर्थ में भारत में आधुनिक राजनीति का प्रतिनिधित्व करता था, और इसलिए स्पष्ट है कि यह भारत के सार्वजनिक जीवन में एक नई प्रवृत्ति के जन्म का सूचक था।

साथ ही साथ कांग्रेस आरंभ से ही कुछ अहम कमज़ोरियों की शिकार रही; इनमें सबसे अहम कमज़ोरी असमान प्रतिनिधित्व की और भारतीय समाज के गैर-कुलीन समूहों के पूरे अलगाव की कमज़ोरी थी। कांग्रेस के प्रथम वार्षिक सत्र में प्रतिनिधियों की संख्या भारत के संगठित राजनीतिक जीवन के बदलते ढर्रों को लगभग सटीक ढंग से प्रतिबिंबित करती थी, और पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त लोग धीरे-धीरे भूस्वामी कुलीनों पर बढ़त हासिल कर रहे थे। भौगोलिक दृष्टि से, कुल मिलाकर प्रेसिडेंसियों की प्रमुखता थी, पर उनमें बंगाल धीरे-धीरे नेतृत्व की स्थिति खोता जा रहा था और दूसरे सभी क्षेत्रों से आगे बढ़ते हुए बंबई उसकी जगह ले रही थी। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले वार्षिक सत्र में 72 गैर-सरकारी भारतीय प्रतिनिधि शामिल हुए और कांग्रेस की आधिकारिक रिपोर्ट का दावा था कि उनमें समाज के सभी क्षेत्रों के लोग शामिल थे और वे "अधिकांश वर्गों" का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें थे वकील, सौदागर और बैंकर, भूस्वामी, चिकित्सक, पत्रकार, शिक्षाशास्त्री, धर्मगुरु और सुधारक। हम अगर उनके क्षेत्रीय वितरण को देखें

तो 38 प्रतिनिधि बंबई प्रेसिडेंसी और 21 मद्रास से थे, पर बंगाल से केवल 4 थे, क्योंकि लगभग उन्हीं दिनों इंडियन एसोसिएशन ने कलकत्ता में अपना राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया था और बंगाल के नेताओं को बंबई सम्मेलन की बात आखिरी क्षणों में ही बताई गई थी। प्रेसिडेंसियों के अलावा 7 प्रतिनिधि पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध के चार प्रमुख नगरों से और एक-एक प्रतिनिधि पंजाब के तीन नगरों से आए थे।[86] दूसरे शब्दों में, ऊँचे दावों के बावजूद, यह पेशेवर लोगों, कुछेक ज़मींदारों और उद्योगपतियों का ही मजमा था, जो ब्रिटिश भारत की मुख्यत: तीन प्रेसिडेंसियों का प्रतिनिधित्व करते थे। सामाजिक संरचना को लें तो आरंभ में कांग्रेस के सदस्य अधिकांशत: सवर्ण हिंदू समुदायों के थे और यही स्थिति उसके अस्तित्व के दो दशकों से अधिक समय तक बनी रही।[87] भागीदारी की यह सीमा कांग्रेस के सदस्यों में कोई बेचैनी पैदा नहीं करती थी, क्योंकि वे आत्मतुष्ट ढंग से पूरे राष्ट्र के प्रतिनिधित्व के दावे करते रहे। लेकिन स्पष्ट है कि इसने उनके कार्यक्रमों में कुछ बाधाएँ अवश्य पैदा कीं, जिनकी और भी विस्तार से हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे।

अपने आरंभिक कार्यकाल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने राजनीतिक व्यवहार में कोई रैडिकल संगठन कभी नहीं रही, जो एकदम प्रत्याशित था, और सरकार के खुले विरोध की संस्कृति अभी तक जड़ें नहीं जमा सकी थी। ये (कांग्रेसी) लोग सतर्क सुधारवादी थे, जो सुरेंद्रनाथ बनर्जी के शब्दों में भारत में "गैर-ब्रिटिश राज" के कुछ नापसंदीदा पक्षों को दूर करने के लिए प्रयासरत थे और प्रार्थनापत्र और ज्ञापन भेजना उनकी कार्यपद्धति था। कांग्रेस के पहले सत्र के अध्यक्ष डब्ल्यू. सी. बनर्जी ने आरंभ में ही स्पष्ट कर दिया था कि यह कोई "षड्यंत्रकारियों और निष्ठाहीनों का अड्डा" नहीं थी; ये लोग "पूरी तरह ब्रिटिश सरकार के वफ़ादार और सुसंगत शुभचिंतक" थे।[88] इससे स्पष्ट है कि कांग्रेस के संस्थापकों को अपनी परियोजना में ए. ओ. ह्यूम को क्यों शामिल करना पड़ा। उनके जुड़ने से सरकार का शक जाता रहेगा और यह बात अहम थी क्योंकि, जैसा कि आरंभिक कांग्रेस के एक और पुरोधा गोखले ने 1913 में लिखा था, भारतीयों द्वारा एक अखिल भारतीय संगठन बनाने का कोई भी प्रयास फ़ौरन ही अधिकारियों की गैर-दोस्ताना निगाहें अपनी ओर खींचता। उन्होंने लिखा: "अगर एक महान अंग्रेज़ कांग्रेस का संस्थापक न होता, तो अधिकारीगण फ़ौरन ही आंदोलन को कुचलने के लिए कोई न कोई ढंग निकाल लेते।" इस तरह, अगर विपिनचंद्र की उपमा का उपयोग करें तो, "अगर ह्यूम और दूसरे अंग्रेज़ उदारवादी कांग्रेस का उपयोग सुरक्षा वॉल्व की तरह करने की उम्मीदें कर रहे थे, तो कांग्रेस के नेता ह्यूम का उपयोग एक तड़ित् चालक के रूप में करने के प्रति आशावान थे।"[89] इस तरह भारत में कांग्रेस का आंदोलन सीमित सुधारों की एक सीमित कुलीनवादी राजनीति के रूप में शुरू हुआ। उसने अपनी सीमाओं के बावजूद एक सर्वसमावेशी

राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के प्रयास किए और एक बहुत ही अहम राजनीतिक माँग उठाई: "सरकार का आधार व्यापक बनाया जाना चाहिए और उसमें जनता को उसका समुचित और वैध हिस्सा मिलना चाहिए।"[90] भारतीय राष्ट्रवादी राजनीति की मुख्य-धारा का प्रवाह यहीं से आरंभ हुआ। उसकी सीमाओं और अंतर्निहित अंतर्विरोधों को देखते हुए उसका विरोध होना स्वाभाविक था, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

टिप्पणियाँ

1. दुआरा 1995: 4.
2. चटर्जी 1986: 42.
3. नंदी 1994a: 3-4 और आगे; 1998 भी देखें।
4. रे 1980: 16-26; इस विचार-संप्रदाय के उदाहरणों के रूप में रूडोल्फ़ और रूडोल्फ़ 1967; ब्रूमफ़ील्ड 1968; लो 1968; इर्शिक 1969; रॉथरमंड 1970; डॉबिन 1972; गॉर्डन 1974 देखें।
5. मिसाल के लिए, गैलगर, जॉनसन और सील 1973; जॉनसन 1973; बेइली 1975; बेकर और वॉशब्रुक 1975; वॉशब्रुक 1976 देखें।
6. सील 1973.
7. रायचौधुरी 1979.
8. मुखर्जी 1996: 104-19.
9. सरकार 1973.
10. सरकार 1983: 11.
11. चंद्र आदि 1989: 22-30.
12. गुहा 1982: 1-3.
13. गुहा 1992.
14. सरकार 1997.
15. चक्रवर्ती 1998: 475.
16. चटर्जी 1986: 43, 50-51.
17. चटर्जी 1993: 6-7, 13 और आगे।
18. ज्ञानप्रकाश 1999: 202.
19. उपरोक्त: 202, 212 और आगे।
20. मिसाल के लिए, विश्वेश्वरन 1997: 84-85 और आगे देखें।
21. मिसाल के लिए, एलॉयशियस 1997: 2 और आगे देखें।
22. लुंबा 1998: 207.
23. ओमेन 200: 3 में उदधृत।
24. बोस और जलाल 1998: 10.
25. भाभा 1990: 5.